पंजाबी साम्यवाद और अंतरराष्ट्रीयता

धीरज कुमार नाइट
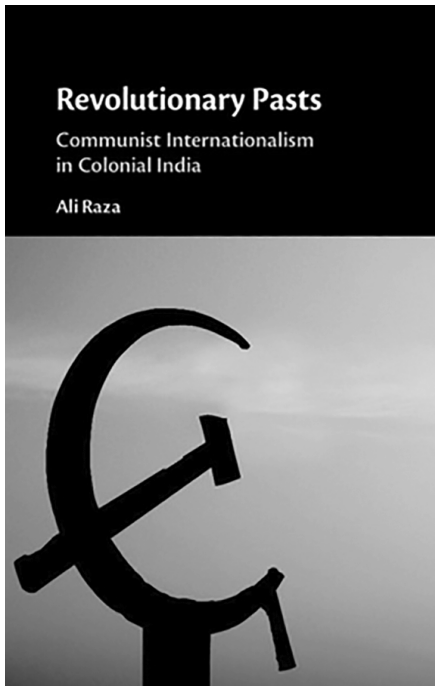
रिवोल्यूशनरी पास्ट्स : कम्युनिस्ट इंटरनैशनलिज़म इन कोलोनियल इंडिया (2020)
अली रज़ा
केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
पृष्ठ : 294.
मूल्य ₹ 2513.00.

अंतरराष्ट्रीय साम्यवाद (कम्युनिस्ट इंटरनैशनलिज़म) के कमोबेश तीन ख़ास पहलू हैं : सैद्धांतिक निर्मिति (थ्योरेटिकल कंस्ट्रक्शन), नैतिक प्रतिबद्धता, और अनुभवधर्मी अमल/व्यवहारशीलता (प्रैक्सिस)। अनेक टीकाकारों ने, निष्पक्षता या पक्षधरता से, इसके सिद्धांतों और ऐतिहासिक अमल की आलोचना की है।[1] इसके बावजूद, सामाजिक क्रांति के प्रेरणास्रोत के रूप में अंतरराष्ट्रीय साम्यवाद की नैतिक प्रतिबद्धता के प्रति आकर्षण लगातार बना रहा है।[2] बकौल जैक देरिदा, मार्क्सवादी स्पिरिट का नैतिक-राजनैतिक पक्ष दुनिया को सबसे ज़्यादा परेशान करता रहा है।[3] यह पुस्तक भी औपनिवेशिक पंजाब में आम कम्युनिस्टों के बीच इसी नैतिक-

[1] शशि जोशी ऐंड भगवान जोश (2011).
[2] प्रफुल्ल बिदवई (2015).
[3] देरिदा मार्क्सवादी स्पिरिट को एक मुक्तिकामी ख़्वाहिश या वादा, (परावैधानिक) न्याय का एक विचार, और लोकधर्मी जनतंत्र की एक संकल्पना की तरह देखते हैं. उनके अनुसार मार्क्सवादी स्पिरिट के दो सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं, एक है सैद्धांतिक और दूसरा नैतिक-राजनीतिक. देखें जैक देरिदा (2006) : 74, 106-08, 111.

राजनीतिक पहलू और उसके प्रति आकर्षण का नए नज़रिये से इज़हार करती है। यह हिंदुस्तान और पाकिस्तान में कम्युनिस्टों के ऐतिहासिक अमल की स्मृतियों को त्यागने से इनकार करती है।

'मध्यवर्ती इतिहास' और 'दैनंदिन साम्यवाद'

समीक्षाधीन पुस्तक में *मध्यवर्ती* इतिहास प्रस्तुत करने का दावा किया गया है, जिसके 'मामूली' क़िरदारों की मौजूदगी इतिहास के उन सीमांत स्थानों पर है जिसके एक तरफ़ 'कुलीन' व्यक्तियों की जीवनी और बौद्धिक इतिहास का क्षेत्र है तथा दूसरी तरफ़ 'स्वायत्त सबाल्टर्न' इलाक़ा। यह किताब भारतीय कम्युनिस्टों के मध्यवर्ती इतिहास को रोज़मर्रा के साम्यवाद में अनुवादित करने का प्रयास है (पृष्ठ : 8)। परंपरागत अभिलेखागार में मौजूद दस्तावेज़ों के अलावा संस्मरण, जीवनी, आत्मकथात्मक इतिवृत्तों को तरजीह देकर यह किताब ऐसे कई कम–यादगार पात्रों और उनकी दुनिया को सामने लाती है जिन्होंने भारतीय और वैश्विक इतिहास को आबाद किया। मसलन, सोहन सिंह भकना जो मध्य पंजाब से ताल्लुक़ रखने वाले उत्तरी अमेरिका में प्रवासी मज़दूर थे, जिन्हें यह नागवार गुज़रता था कि गोरे उन्हें हिंदू दास कहते हैं, जो मज़दूरी में कटौती के लिए उनसे नफ़रत करते हैं (पृष्ठ 33)। इस नस्लीय भेदभाव के अनुभव और उत्पीड़न के ख़िलाफ़ वह ग़दर आंदोलन और फिर कम्युनिस्ट आंदोलन में शामिल हो गए। दादा आमिर हैदर ख़ान पंजाब के लस्कर थे। उन्होंने भी अपने लस्कर होने के नस्लीय-वर्गीय उत्पीड़न की निशानदेही की, जिसे रवि आहूजा ने युरोपीय जहाज़ों पर हायरलिंग की स्थिति कहा है।[4] वे भी पहले ग़दरवादी और उसके बाद कॉमरेड बन गए।

ग़दरियों ने भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन को सशस्त्र तरीक़ों से उखाड़ फेंकने का आगाज़ किया। हालाँकि उन्हें पुलिस ने पकड़ लिया और *लाहौर साज़िश* मामले (1915) के तहत क़ैद कर लिया। 1920 के दशक में उनमें से बहुतों ने मज़दूर और किसान आंदोलनों के संगठन में योगदान दिया, जो साम्राज्यवाद विरोधी कम्युनिस्ट क्रांति की उनकी योजना के अभिन्न अंग थे। संतोख सिंह एक ऐसे ही क़िरदार थे जिन्होंने 1926 में *कृति* (मज़दूर) बुलेटिन शुरू किया और 1927 में पंजाब में *कृति किसान सभा* (मज़दूर और किसान पार्टी) की स्थापना की। दर्शन सिंह फेरुमन ने अकाली सिख सभा आंदोलन और कम्युनिस्ट अभियान, दोनों में भाग लिया। गुरुद्वारों को भ्रष्ट महंतों के चंगुल से मुक्त कराने में उनकी सफलता के बाद, उनमें से कईयों ने गुरुद्वारा समितियों का चुनाव लड़ा। इन कम्युनिस्टों ने अपने प्रभाव क्षेत्र के गाँवों में 'विभाजन' की हिंसा से अल्पसंख्यकों (मुसलमानों) की रक्षा की (पृष्ठ 238)। यह किताब कई और ऐसे किरदारों और परिघटनाओं को उभारती है और तत्कालीन

[4] हायरलिंग का अर्थ उस व्यक्ति से है जो अपने श्रम शक्ति को अस्थायी रूप से कुछ अंतराल के लिए बेचता है, लेकिन इस समयावधि में आश्रितावस्था (डिपेंडेंसी) को मंज़ूर कर लेता है. वह एक मुक्त-मज़दूर (फ्री वेज लेबर) से अलग है. ऐतिहासिक रूप से हायरलिंग और मुक्त-मज़दूर दो स्पष्टतः अलग श्रेणियाँ नहीं रहे हैं. आहूजा इस धारणा पर सवाल उठाते हैं कि मुक्त-मज़दूरी ने पूँजीवाद या आधुनिकता के तहत हायरलिंग को पूरी तरह से विस्थापित कर दिया है. रवि आहूजा (2013) : 119.

समय में कम्युनिस्ट होने के विभिन्न मायनों, उसके सामाजिक पहलुओं और राजनैतिक कठिनाइयों को रोज़मर्रा के स्तर पर समझने का प्रयास करती है। सुशीला कुमारी ने एक अन्य कॉमरेड चैन सिंह चैन के साथ 'ग़ैर-सहवासी' (नॉन-कांज्युमेट) विवाह किया। इस विवाह का प्रारंभिक उद्देश्य कम्यून में स्वतंत्र महिला कॉमरेड की मौजूदगी के कारण 'यौन घोटाले' के किसी भी सामाजिक 'दाग' से (महिला कॉमरेड और पार्टी को) बचाना था। हालाँकि बाद में सुशीला ने एक अन्य साथी के यौन प्रस्ताव को ख़ारिज करने के लिए इसे एक वास्तविक विवाह में बदल दिया। (पृष्ठ 134-35)।

कई कम्युनिस्टों ने अपने ख़िलाफ़ दर्ज किए गए देशद्रोह के मामलों के तहत जेलों में लंबे अर्से बिताए। सोहन सिंह जोश के वृत्तांत से पता चलता है कि उन्होंने समान विचारधारा वाले साथियों की संगति में जेलों को आत्म-साक्षात्कार के स्थल में बदल दिया। उन्होंने साम्यवादी साहित्य व्यवस्थित ढंग से पहली दफ़े जेल में ही पढ़ा, 'सही' मायनों में सिद्धांतों को समझा और भारत में साम्यवाद की आवश्यकता और उसकी रणनीति पर साथी क़ैदियों के साथ मंथन किया (पृ.133)। पाकिस्तान में, विभाजन के बाद कम्युनिस्टों को इसके गठन के प्रारंभिक वर्षों से दमन का सामना करना पड़ा। उनमें ऐसे भाकपा सदस्य भी थे जिन्हें पार्टी ने मुस्लिम जनता को प्रभावित करने और मुस्लिम लीग को एक प्रगतिशील संगठन में बदलने के और लीग में शामिल होने के लिए प्रेरित किया था (पृष्ठ 227)। इस तरह उन्होंने सोचा था कि लीग का चरित्र बदल जाएगा और वह साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ संयुक्त लड़ाई का हिस्सा बन जाएगी। प्रारंभ में वे श्रमिकों और किसानों के कुछ मुद्दों को लीग की अभियान सामग्री में शामिल करने में सफल भी रहे। हालाँकि, लीग का नेतृत्व अधिक चालाक और चतुर साबित हुआ। उन्होंने जल्द ही अपनी पार्टी में कम्युनिस्टों की शिनाख़्त की और उन्हें निकाल बाहर किया। दादा अमीर हैदर ख़ान को बार-बार जेल में डाला गया और फिर गाँव में नज़रबंद कर दिया गया। एक अदम्य भावना के साथ दादा ने कम्युनिस्ट विचारों के प्रचार और पाकिस्तान में मानवाधिकारों के दमन के अन्य पीड़ितों की सहायता करने के अपने प्रयासों को जारी रखा। विभाजन से पैदा हुए राष्ट्र-राज्यों के बीच पुनर्मिलन का उनका सपना उत्तरोत्तर छीजने लगा। पासपोर्ट और वीज़ा के लिए उनका बार-बार अनुरोध करना आख़िरकार 1989 में सफल हुआ। पहली बार पाकिस्तान के बाहर यात्रा उन्होंने अपने भारतीय साथियों से मिलने के लिए की।

युटोपिया और उसकी भारतीय जड़ें

पंजाब के ख़ास संदर्भ में यह किताब ऐसे पहलुओं पर भी चर्चा करती है जो अब तक भारत के साम्यवाद के इतिहास में (शायद ग़ैर ज़रूरी समझे जाने के कारण) गौण रहे हैं, जैसे कम्युनिस्ट होने की आत्म-छवि या हिंदुस्तान में साम्यवाद की अमूर्त अवधारणा के प्रति होने वाले विशेष आकर्षण के स्थानीय और

तत्कालीन पहलुओं की समीक्षा। किताब का दावा है कि 1917 की रूसी क्रांति की सफलता और क्रांतिवीर लेनिन द्वारा साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ चलने वाले सभी उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय आंदोलनों को नैतिक समर्थन की घोषणा के आलोक में हिंदुस्तान में राष्ट्रीय मुक्ति और सामाजिक क्रांति के एक शक्तिशाली स्वप्नलोक (युटोपिया) का उदय हुआ। ग़दर पार्टी तथा अन्य राजनैतिक आंदोलनों में अंतर्निहित शोषण मुक्त समाज की विभिन्न स्वप्निल अवधारणाओं या युटोपिया को अंतरराष्ट्रीय साम्यवाद ने नया आयाम दिया। दो महायुद्धों के बीच के उथल-पुथल और संभावनाओं से भरे कालखंड में साम्यवादी युटोपिया की शक्ति ने क्रांतिकारियों को अपनी ओर खींचा और प्रेरित किया। इन इंक़लाबियों ने मातृभूमि में साम्राज्यवादी वर्चस्व; नस्लीय उत्पीड़न, पितृसत्तात्मक अधीनता और जाति आधारित शोषण से सांसारिक मुक्ति की दिशा में काम किया। उनके समतावादी कार्यक्रम ने अस्पृश्यता, किसान ऋण और शोषक राजस्व प्रणाली की बुराइयों का विरोध किया (पृष्ठ 109)। इसके अलावा, उन्होंने राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय के अधिकार के सिद्धांत को बनाए रखा। उनका मानना था कि ऐसा सिद्धांत अल्पसंख्यकों में वर्चस्व के डर को शांत करेगा और इसलिए राष्ट्रीयताओं के बीच वास्तविक एकता की संभावना के लिए अनुकूल साबित होगा।

रज़ा इस पारंपरिक दृष्टिकोण को चुनौती देते हैं कि भारतीय कम्युनिस्टों ने बाहरी ताक़तों, मुख्य रूप से कॉमिन्टर्न (कम्युनिस्ट इंटरनैशनल) और ग्रेट ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीजीबी) के प्रभाव में ही काम किया। फलस्वरूप भारतीय कम्युनिस्ट न केवल कम्युनिस्ट उपमहाद्वीप के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक ताने-बाने में खुद को शामिल करने में अक्षम साबित हुए बल्कि यह उनकी राजनैतिक विफलता का सर्वोपरि कारण भी बना।[5] कम्युनिस्टों के राजनीतिक व्यवहार पर इस तरह की टिप्पणी के विरोध में रज़ा ने सुझाव दिया है कि रोज़मर्रा की राजनीति में, भारतीय कम्युनिस्टों के ख़िलाफ़ रूढ़िवादियों की भाषा अपर्याप्त साबित हुई। वे निश्चित रूप से युटोपियन थे, लेकिन भारत में अपने तत्कालीन संदर्भों और दर्शकों के प्रति भी संवेदनशील थे। उन्होंने परिचित सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक शब्दावली में मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारों का अनुवाद किया (पृष्ठ 12)। अकाली-सिख आंदोलन में हिस्सेदारी

[5] इस पारंपरिक दृष्टिकोण का तर्क है कि कम्युनिस्ट भारतीय संदर्भ की विशिष्टता को समझने में विफल रहे : बीसवीं शताब्दी की शुरुआत के भारत में औपनिवेशिक राज्य की अर्ध-उदार प्रकृति थी. इसने एक वर्चस्ववादी चरित्र बनाए रखा. यह एक मज़बूत, एकीकृत औपनिवेशिक राज्य था, जिसे आंशिक रूप से एक निश्चित मात्रा में अधिकार प्राप्त था क्योंकि इसने क़ानून, प्रशासन और शिक्षा की अर्ध-आधुनिक प्रणाली स्थापित की थी. स्वतंत्रता के बाद भारत बुर्जुआ-लोकतांत्रिक राज्य था. राज्य-सत्ता के इन संदर्भों का क्रांति-पूर्व रूस के सैन्य राजशाही ज़ारिस्ट शासन और बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में चीन के सैन्यवादी सत्ता से तुलना की शुरुआत में चीन में उल्लू बनाना साबित हुआ. बीसवीं सदी के भारत में राज्य के वर्चस्ववादी चरित्र ने क्रांति के दो चरणों की रणनीति और भारतीय कम्युनिस्टों द्वारा अपनाई गई क्रांति के विद्रोही पथ की रणनीति को अव्यावहारिक बना दिया. देखें, बिदवई (2015) : 8, 49-50, 55, 83, 330; जोशी ऐंड जोश (2011) : xi-xii, 386-90.

की और फिर गुरुद्वारा समितियों के चुनाव में भाग लिया। 1937 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी (सीएसपी) के साथ एक व्यवस्था के तहत प्रांतीय चुनाव लड़ा। रघुबीर कौर और सोहन सिंह जोश मध्य पंजाब के निर्वाचन क्षेत्रों से पंजाब की प्रांतीय विधानसभा के लिए चुने गए। उन्होंने 1946 का चुनाव भी लड़ा। इस बार वे कांग्रेस, लीग और अकालियों द्वारा अपने ख़िलाफ़ किए गए उग्र हमलों का मज़बूती से सामना नहीं कर सके। अकालियों ने उन्हें धर्म विरोधी और सिखों पर मुस्लिम वर्चस्व के समर्थक के रूप में बदनाम किया। जवाब में कम्युनिस्टों ने मध्य पंजाब में सिखों के लिए अलग सिखिस्तान की माँग को सामरिक समर्थन देने तक की पेशकश की। उन्होंने दाढ़ी और बाल उगाए, काले कपड़े पहने, पीला झंडा फहराया और ग्रंथ साहिब के साथ प्रदर्शन किया। धर्म-विरोधी आरोपों का मुक़ाबला करने के इरादे से ग्रामीणों को अमृत पिलाया, वग़ैरह, वग़ैरह। (पृष्ठ 233)। ग़ैर-कम्युनिस्टों द्वारा साम्यवादियों पर लगाए जाने वाली तोहमतों (कि वे नास्तिक, धर्म-द्वेषी, राष्ट्रीयता-विरोधी, विदेशी एजेंट वग़ैरह थे) के बारे में रज़ा ने एक दिलचस्प ख़ुलासा भी किया है। *मेरठ साज़िश* मामले (1929-34) के दस्तावेज़ खँगालते हुए रज़ा बताते हैं कि दरअसल ऐसे आरोप की तारीख़ी जड़ें पुलिस के आरोप-पत्रों और सरकारी वकीलों द्वारा की गई अदालती ज़िरह में मिलती हैं। अंग्रेज़ों द्वारा ईज़ाद किए गए इन आरोपों और इसकी राजनैतिक शब्दावली को ही बाद में अकालियों, लीगियों, कांग्रेसियों और फिर समाजवादियों ने अपनाया (पृष्ठ 192-95)।

पुस्तक स्पष्ट रूप से मानती है कि 1930-40 के दशक में कुछ महिलाएँ कम्युनिस्ट आंदोलन में शामिल हुईं जिनमें विमला डांग, सुशीला कुमार और रघुबीर कौर प्रमुख थे। 1946 में सिंचाई के लिए पानी की कमी को लेकर भारी संख्या में महिलाओं ने 'हार्से-चिन्ना' आंदोलन में भाग लिया। हालाँकि बिदवई सरीखे लोगों ने कहा है कि यह भारतीय समाज की विशिष्टता को समझने में भाकपा की अक्षमता को ही रेखांकित करती है कि पार्टी महिलाओं की आकांक्षा को बुलंदी से समर्थन देने तथा भारतीय पितृसत्ता के ख़िलाफ़ मुसलसल लड़ने में नाक़ामयाब रही। भारत के शातिर पुरुष-वर्चस्ववादी समाज में जेंडर के मुद्दे, ख़ासकर महिलाओं की भागीदारी को पार्टी द्वारा वह महत्त्व नहीं दिया जिसका वह हक़दार था। बिदवई का तर्क है कि वामपंथियों ने जाति और लिंग के मुद्दे को अपने कठोर वर्ग-केंद्रित विश्लेषणात्मक ढाँचे के कारण टाल दिया।[6] रज़ा की कहानी से भी पता चलता है कि भारत को साम्राज्यवादी शासन से मुक्त कराने और एक श्रमिक और किसान क्रांति के लिए महिलाओं की मुक्ति और समानता के सवालों को कम महत्त्व दिया गया था। फिर भी क्रांतिकारी महिलाओं ने अपने लिए ज़गह और भूमिकाएँ बनाईं। फलस्वरूप वे महिलाओं की बराबरी और मुक्ति के सवाल को बड़े पैमाने पर वामपंथी आंदोलन के एजेंडे में शामिल करने में

[6] बिदवई (2015) : 8-9, 336.

मददगार साबित हुईं (पृष्ठ 126)। 'कैसे और कहाँ' ऐसा हुआ? किताब में यह ग़ायब है। रज़ा ने ठीक ही दावा किया है कि औरतों की भूमिकाओं पर नियोजित चुप्पी इस तथ्य को भी छुपाती है कि उनके द्वारा घर और समुदाय के दायरे में किए गए अदृश्य श्रम ने इंक़लाबी मर्दों के राजनीतिक-साहसिक कार्य को बड़े पैमाने पर संभव बनाया था। अक्सर नामचीन क्रांतिकारी भी पति, पिता और पुत्र के रूप में आदर्श से कोसों दूर रहे। परिवार में उनकी अपर्याप्त मौजूदगी और ग़ैर-ज़िम्मेदारी के बरअक्स महिलाओं को अतिरिक्त दिक़्क़त और ज़िम्मेदारी उठानी पड़ी (पृष्ठ 127)।

पुस्तक से ज़ाहिर है कि पंजाब के कम्युनिस्टों की राजनीति ग़रीब किसान-मज़दूर और निचली जातियों का पर्याप्त रूप से प्रतिनिधित्व नहीं करती थी (पृष्ठ 165-66)। उन्होंने *कृति* के स्तंभों में छुआछूत की और अन्य बुराइयों की निंदा बेशक़ की (पृष्ठ 109)। हम अन्य अध्ययनों से भी जानते हैं कि 1930 में अपनाए गए सीपीआई के मसौदे ने गुलामी, जाति व्यवस्था और अन्य सभी रूपों में असमानता के पूर्ण उन्मूलन का आह्वान किया। हालाँकि इस वैचारिक दृष्टिकोण की शुद्धता को सही रणनीतिक अंजाम शायद कभी नहीं मिल पाया। मज़दूरों और किसानों के कमज़ोर गठबंधनों के टूटने के डर से दशकों तक कम्युनिस्ट सीधे-सीधे जाति के सवाल पर दलित मोर्चे को संगठित करने से बचते रहे। प्रसिद्ध कम्युनिस्ट बीटी रणदिवे ने 1982 में लिखा था कि यह स्वीकार करना होगा कि जाति के ख़िलाफ़ वैचारिक संघर्षों की निश्चित रूप से उपेक्षा हुई है।[7] रज़ा बताते हैं कि मुख्य रूप से मध्य पंजाब में जाट सिख किसानों को साम्यवाद के समर्थन का आधार बनाया गया था, जिनकी राजनीतिक लामबंदी समुदाय, जाति और वर्ग के आधार पर हुई थी। इसलिए भी मध्य पंजाब का इलाक़ा सैन्य भर्ती और उत्प्रवास के साथ-साथ राजनीतिक अभियान का भी केंद्र बना।

जाति उत्पीड़न और मुक्ति की राजनीति के बारे में रज़ा का लेखा-जोखा असहज सवाल उठाने से बचता है, वह उसी प्रति-तथ्यात्मक (काउंटर-फैक्चुअल) जाँच पद्धति को लागू नहीं करता है जैसा कि वह जेंडर के मुद्दे पर करता है। जैसे, मध्य पंजाब में 1926 से दलितों के बीच जाति सुधार के लिए कार्यरत एक प्रसिद्ध नेता मंगू राम भी ग़दरवादी थे। वह पंजाब से कैलिफोर्निया (यूएसए) में एक बागान-मज़दूर हो पहुँचे। यहाँ वे ग़दर आंदोलन में शामिल हो गए। वह ग़दर क्रांति के लिए हथियारों से लदी एक नाव के साथ रवाना हुए। उन्हें फिलीपींस के तट पर रोक दिया गया और 1915 में क़ैद कर लिया गया। जालंधर लौटने पर उन्हें चमार समुदाय के सदस्य के रूप में जाति-आधारित भेदभाव और अपमान की उसी पीड़ादायक समस्या का सामना करना पड़ा, जिससे बचने की कोशिश में वे ग़दरवादी बने थे। उन्होंने जाति और धर्म सुधार आंदोलन का आयोजन किया, जिसे 'आद धर्म' और बाद में 'रविदास मंडल' कहा गया। इस आंदोलन ने हिंदू पहचान को त्याग दिया, जाति

[7] विजय प्रसाद (2015) : 299; बी. टी. रणदिवे (982).

असमानता और कलंक की निंदा की और समस्त मानव जाति, चाहे वह किसी भी पेशे में हो, की समानता का दावा किया। इस आंदोलन ने विशेष रूप से मध्य और पश्चिमी पंजाब के चमारों के बीच एक विद्रोही मंथन को बढ़ावा दिया। इसके सदस्यों ने रूढ़िवादी सिखों और सवर्ण हिंदुओं द्वारा उनकी सभाओं पर किए गए हमलों से डरने से इनकार कर दिया। 1930 के दशक के उत्तरार्ध में मंगू राम चुनावी रूप से भी सफल हो गए। दलित कुल आबादी का लगभग एक-चौथाई हिस्सा थे, जो पंजाब में 1930 के दशक में जाति हिंदुओं के बराबर था।[8] रज़ा इस ग़दर क्रांतिकारी का कोई ज़िक्र भी नहीं करते। न ही वह मंगू राम द्वारा बनाए मुक्ति और सुधार के अलग रास्ते की तरफ़ कम्युनिस्टों के मौन की ख़बर लेते नज़र आते हैं।

ऐसे सवालों में रज़ा की दिलचस्पी काफ़ी कुछ फीकी सी लगती है। परिणाम है, एक और अवसर की चूक। मसलन, रज़ा का विवरण पंजाब में कम्युनिस्टों के राजनीतिक व्यवहार की केरल जैसे अन्य क्षेत्रों से तुलना की कोशिश भी नहीं करता है। हम अन्य अध्ययनों से जानते हैं कि केरल में कम्युनिस्टों के सत्ता में आने का मुख्य कारण साम्यवाद को जाति समानता के सिद्धांत में बदलना था। समाजवाद/साम्यवाद के वैचारिक झंडे तले शुरू की गई राजनीतिक गतिविधि ने जातीय अधीनता को व्यापक रूप से चुनौती दी, जिसके कारण तथाकथित निम्न जाति के लोगों के ख़िलाफ़ जातीय-सत्ता का इस्तेमाल अब आसानी से नहीं किया जा सकता था।[9] तो फिर पंजाब में कम्युनिस्टों ने सामाजिक क्रांति के लिए इस समान रास्ता क्यों नहीं अपनाया? इसका जवाब उतना ही फ़ायदेमंद होता जितना कि इस पर बरती गई चुप्पी परेशान करती है!

यह किताब कम्युनिस्ट आंदोलन में आंतरिक गुटों के आपसी संघर्ष का भी अवलोकन करती है और मानती है कि गुटबाजी युटोपिया की राजनीति से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई थी (पृष्ठ 146)। कुछ टिप्पणीकार इसे लोकतांत्रिक केंद्रीयतावाद (डेमोक्रेटिक सेंट्रलिज़म) की मार्क्सवादी-लेनिनवादी पद्धति के एक कष्टप्रद परिणाम के रूप में समझाते हैं। विभिन्न रणनीतियों या सामरिक स्थितियों और उनकी स्वतंत्र अभिव्यक्ति के मद्देनज़र लोकतांत्रिक केंद्रीयतावाद पार्टी के अंदर गुटों के गठन की अनुमति नहीं देता है।[10] रज़ा का आख्यान क्रांतिकारियों की सैद्धांतिक बहस को बाईपास करता है। रज़ा की चर्चा में विभिन्न गुटों और उनके विचारों की पृष्ठभूमि में निहित सामाजिक-आर्थिक संबंधों और उसके सार्वजनिक तर्क को समझने की कोई गुंजाइश नहीं बनती। मसलन पंजाब नहर कॉलोनी में बेदख़ल ख़ानाबदोश-घुमंतुओं और चरवाहों ने 1928-29 से 'सन ऑफ़ सॉइल' (धरतीपुत्र) अभियान का आयोजन किया। उन्होंने ज़मीन वापसी की माँग की।[11] उनके अलावे खेती-पेशा निचली जातियों ने भी 1928-29 से कृषक

---

[8] मार्क जुएर्गेन्समेयर (2018); रोनकी राम (2004).

[9] दिलीप मेनन (1994).

[10] बिदवई (2015) : 5-6, 348.

[11] नीलाद्री भट्टाचार्य (2018) : 405-11.

जनजातियों में उन्हें शामिल करने के लिए इसी तरह का अभियान चलाया।[12] इसकी पूर्व-पीठिका कुछ यूँ है। 1900-01 के पंजाब भूमि हस्तांतरण अधिनियम ने 'कृषक जनजातियों' की एक श्रेणी बनाई, जिसमें मुख्य रूप से जाट (हिंदू, सिख और मुसलमान सभी) किसान शामिल थे। अधिनियम ने इन 'कृषक जनजातियों' की श्रेणी से इतर व्यक्तियों को जमीन के स्वामित्व के हस्तांतरण पर रोक लगा दी। इस क़ानूनी हस्तक्षेप के आलोक में खेत-मज़दूरी की सेपीदारी व्यवस्था में और तेज़ी से बदलाव होने लगा।[13] लब्बोलुआब यह है कि पंजाबी ग्रामीण दुनिया में होने वाले बदलाव के परिणाम कम से कम तीन स्तरों पर नज़र आए : किसानों की बढ़ती ऋणग्रस्तता, भूमिहीन मज़दूरों की बढ़ती संख्या, और 1940 तक 40-47 प्रतिशत भूमि बटाईदारी के अधीन होना।[14] ऐसे में कम्युनिस्टों ने बड़े पैमाने पर राजनैतिक लामबंदी के लिए कौन-सी योजना बनाई? चाहे-अनचाहे रज़ा की इंक़लाबी अतीत-चर्चा इन सवालों से मुँह फेर लेती है।

क्रांतिकारी मशाल

यह पोथी कभी-कभी रोमांचक दावों और उत्सव-कथा का मिश्रण प्रस्तुत करती नज़र आती है। इसकी कथा-तकनीक एक प्रेरणादायक लहज़े वाली है। यूँ तो किताब दक्षिण एशियाई परिप्रेक्ष्य से कम्युनिस्ट और वामपंथी अंतरराष्ट्रीयता के विश्व इतिहास में योगदान करने का दावा करती है (पृष्ठ 4) लेकिन अंतरराष्ट्रीयतावाद पर चर्चा मुख्य रूप से भारतीय कम्युनिस्टों और कॉमिन्टर्न के बीच होने वाले वैचारिक तथा सामरिक आदान-प्रदान तक ही सीमित है। ऐसा लगता है कि इस लेन-देन की प्रकृति भी काफ़ी कुछ एकतरफ़ा सी ही थी। ज़्यादातर कॉमिन्टर्न ने ही भारतीय कम्युनिस्टों के निर्णय को आकार और दिशा दी, जैसे 1928-34 के दौरान कांग्रेस नेतृत्व वाले राष्ट्रीय आंदोलन को 'बुर्जुआ राष्ट्रवाद' घोषित कर उसकी निंदा करना, या अगस्त 1942 में भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के लोकप्रिय मोर्चे से दूरी बनाना आदि। बक़ौल रज़ा, भारतीय कम्युनिस्ट नेतृत्व द्वारा कॉमिन्टर्न के प्रति आज्ञाकारिता को तरज़ीह देने, यानि रिश्ते के एकतरफ़ा होने के कारण एक भारी राजनैतिक क़ीमत भी चुकानी पड़ी (पृष्ठ 100)। बहरहाल, भारतीय कम्युनिस्टों द्वारा साम्यवादी अंतरराष्ट्रीयतावाद को कोई उल्लेखनीय वैचारिक और व्यावहारिक योगदान या निर्यात क्या था (यदि था तो!), इस पर शोध का इंतज़ार है।

रज़ा ने पुरज़ोर सुझाव दिया है कि कॉमिन्टर्न ने चाहे जितनी भी कोशिश की, सभी स्तरों पर हर कम्युनिस्ट पार्टी की गतिविधि की निगरानी करना उसके लिए मुमकिन नहीं था। इस कारण से दुनिया भर में कम्युनिस्ट

[12] मृदुला मुखर्जी (2005) : 180-181.

[13] यहाँ ग़ौरतलब है कि जजमानी प्रथा से संचालित परंपरागत मज़दूरी वाली सेपीदारी व्यवस्था 19वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में 'खेती के व्यवसायीकरण' के साथ बदलने लगी थी, जिसके अंतर्गत पंजाबी ज़मींदार (पंजाब में ज़मीन के मालिकाना हक़ रखने वाले किसान को ही ज़मींदार कहते हैं) श्रमिक जातियों से ठेका-मजदूरी (कॉन्ट्रैक्ट लेबर) पर या नक़द भुगतान कर काम लेने लगे.

[14] मुखर्जी (2005) : 175.

उपसंस्कृतियों का उदय हुआ, जिनका मॉस्को से कोई सीधा लेना-देना नहीं था (पृष्ठ 99)। पंजाब में इस तरह की उपसंस्कृति का रज़ा का विश्लेषणात्मक विवरण ओजस्वी और प्रेरक है। यह वर्तमान की ख़ातिर क्रांतिकारी युटोपिया की ऐतिहासिकता को सामने लाता है। भारतीय उपमहाद्वीप में कम्युनिस्ट क्रांति की विफलता से जुड़े निराशावाद का कोई भी शोकरंग रज़ा के विश्लेषण में नहीं आता है। उनके लिए, साम्यवाद का मुक्तिदायी वादा एक रिले रन की मशाल है : पिछले कम्युनिस्टों ने अपनी क्रांतिकारी लपटों को बनाए रखा, अब अगली पीढ़ी को इसे गंभीरता से आगे बढ़ाना चाहिए। यह पुस्तक इंक़लाबियों की आत्मकथाओं और संस्मरणों के तार्किक और भावनात्मक धागों के साथ अपने विश्लेषण को जोड़ती है। इसकी लेखन शैली क्रांतिकारी आख्यान को जीवंत बनाती है और खुफ़िया अफ़सरों द्वारा प्रस्तुत अभिलेखीय रिपोर्टों में संरक्षित 'प्रति-विद्रोह (काउंटर-इंसरजेंसी) के गद्य' को भेदने में मदद करती है। भारतीय वामपंथ पर विजय प्रसाद की हालिया किताब की तरह ही यह किताब ऐतिहासिक स्रोतों की न केवल अच्छी जानकारी देती है, बल्कि स्रोतों की फ़ेहरिश्त को और आगे भी बढ़ाती है।

संदर्भ

जैक देरिदा (2006) (1994) *स्पेक्टर्स ऑफ़ मार्क्स : द स्टेट ऑफ़ द डेट, द वर्क ऑफ़ मोरनिंग ऐंड द न्यू इंटर-नैशनल*, (अनु. पैगी कामुफ), रूटलेज, न्यू यॉर्क.

दिलीप मेनन (1994), *कास्ट, नैशनलिज़म ऐंड कम्युनिज़म इन साउथ एशिया : मालाबार, 1900-1948*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

नीलाद्री भट्टाचार्य (2018), द *ग्रेट एग्रेरियन क़ॉन्कवेस्ट : द कॉलोनियल रिशेपिंग ऑफ़ अ रूरल वर्ल्ड*, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.

प्रफुल्ल बिदवई (2015), द *फीनिक्स मोमेंट : चैलेंजेस कॉनफ्रंटिंग द इंडियन लेफ़्ट*, हार्पर कॉलिंस : नोएडा.

बी. टी. रणदिवे (1982), *कास्ट, क्लास ऐंड प्रॉपर्टी रिलेशंस*, नैशनल बुक एजेंसी, कलकत्ता.

मार्क जुर्गेंसमेयर (2018), 'आद धर्म' इन ऐन ए जैकबसन, हेलेन बसु, एंजेलिका मालिनार और वसुधा नारायणन (सं.), *ब्रिल्स इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ हिंदूइज़म ऑनलाइन*. http://dx.doi.org/10.1163/22125019_BEH_COM_9000000219, 13 जून, 2021.

मृदुला मुखर्जी (2005), *कॉलोनियलाइज़िंग एग्रीकल्चर : द मिथ ऑफ़ पंजाब एक्सेप्शनलिज़म*, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली.

रवि आहूजा (2013), 'अ फ्रीडम स्टिल एन्मेश्ड इन सर्विट्यूड : द अनरूली 'लस्कर' ऑफ़ द एसएस सिटी ऑफ़ मनीला ऑर, ए माइक्रो-हिस्ट्री ऑफ़ द 'फ्री लेबर' प्रॉब्लम', इन रवि आहूजा (सं.) *वर्किंग लाइव्स ऐंड वर्कर मिलिटेंसी : द पॉलिटिक्स ऑफ़ लेबर इन कॉलोनियल इंडिया*, तुलिका बुक्स, दिल्ली.

विजय प्रसाद (2015), *नो फ्री लेफ़्ट : द फ्यूचर्स ऑफ़ इंडियन कम्युनिज़म*, लेफ़्ट वर्ड्स, दिल्ली.

शशि जोशी ऐंड भगवान जोश (2011) (1992), *स्ट्रगल फ़ॉर हेजिमनी इन इंडिया : अ हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन कम्युनिस्ट, वॉल्यूम-I, द इर्रेलेवेंस ऑफ़ लेनिनिज़म*, सेज पब्लिकेशन, दिल्ली.

रोनकी राम (2004), 'अनटचेबिलिटी, दलित कॉन्शसनेस, ऐंड आद धर्म आंदोलन इन पंजाब', *कॉन्ट्रिब्यूशन टू इंडियन सोसियॉलजी*, 38 (3) : 323-49.